कृष्णभक्ति शाखाः 'आलस्य और आसक्त का स्वर्ण युग'

नितेश कुमार सिंह*

जब ग्रियर्सन ने भक्तिकाल को स्वर्ण युग की संज्ञा दी थी तब सम्पूर्ण भक्तिकाल को परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा था।हिन्दी साहित्य के तमाम इतिहासकारों को पढ़ने और समझने के उपरान्त भक्तिकाल की एक शाखा 'कृष्णाश्रयी' पर नजर टिक जाती है। सभी रचनाकारों और रचनाओं को नजर में रखने तथा चिन्तन मनन करने के उपरान्त विचार आया कि क्या इस शाखा को आलस्य एवं आसक्ति का स्वर्ण युग कह सकते हैं?

गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ मंदिर निर्माण के उपरान्त भोग–विलास राग की प्रधानता हो गई। ''मंदिरों को प्रशंसा 'केसर की चक्कियाँ चलै है कहकर होने लगी। भोग विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक– सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा प्रभाव पड़ सकता था।''[1]

स्पंसदें पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि क्या इस शाखा के कवियों को तत्कालीन परिस्थितियों , सामाजिक स्थिति का सही अनुमान था? भगवत भक्ति एक चीज है देश– दशा दूसरी। फिर वो कौन से कारण है जो राधा कृष्ण में ही तल्लीन रहे? कही अपनी सुरक्षा की दृष्टि से तो सन्यास का ध्यान नहीं आया। जिसका पूरा पेट भरा हो उसको जनता की चिन्ता क्यों हो भला? इन दार्शनिक मतों पर अपना विचार करते हुए यह महसूस हुआ कि ये आचार्य और कवि भी असक्त से युक्त है, परे नही। माया हटाने का ज्ञान देने वाले खुद माया से लिप्त थे। देश– दशा बताने की आवश्यकता इस लेख में सम्भवतः नहीं है, क्योंकि सब जानतें है मुसलमानों की सत्ता स्थापित थी। जनता आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक रूप से निम्नतर स्थिति को प्राप्त थी। यही पर यह बात आ जाती है कि उस समय के कवियों आचार्यों का व्यवहार कैसा था? वे स्थिति पर ध्यान ना देकर शायद अपने को अलग रख यह दिखाना चाहते थे कि वे निर्वैयक्तिक है। ये निर्वैयक्तिकता ही डर, कमजोरी, कुछ ना कर पाने की खिसियाहट थी। परिस्थितियों से विमुख हो जाने वालें इसी कारण से कोई लोक आन्दोलन नहीं खड़ा कर पाते। ठीक इसी जगह पर वे 'कबीर' 'तुलसी' नहीं हो पाते।

पच्चीस से तीस वर्ष की अवस्था में या उससे पहले भी घर, परिवार, देश से विमुख हो जाने वाले वास्तविक रूप से अपनी अकर्मण्यता का ही प्रतिपादन करते हैं। कुछ न करने की प्रबल उत्कंठा, आलस्य के रूप में रूपान्तरित हो गई। ये कहां का न्याय है कि अपने रंग में मस्त रहो, अपने रंग में मस्त हुआ तो क्या हुआ?

अष्टछापीकवि कुम्भनदास तो ब्रज के बाहर की यात्रा ही नहीं करना चाहते थे। इनका बहाना रहता था कि श्रीनाथ जी के दर्शन के अभाव में मार्मिक पीड़ा का अनुभव होता है, कभी–कभी तो बीच रास्ते में ही वापस हो लेते थे। **'गृहस्थ होते हुए भी ये अनासक्त थे और कृष्ण भक्ति में लीन रहने वाले साधुवृत्ति के पुरूष थे।'**[2]

ये तो पता है कि ये साधुवृत्ति पुरूष है, किन्तु बुद्धि अनासक्त पर टिक जाती है कि 'अनासक्त कैसे?' हृदय इस बात को मान भी लेते है कि ऐसे महान पुरूष होते है जो घर, परिवार से विमुख होकर अनासक्त कहलाते हैं। पर क्या घर–परिवार से अनासक्त होना पूर्णतः अनासक्त होना होता है, देश–दशा से भी अनासक्त हो जाते। फिर भी महाराजा के बुलावे पर सीकरी जाने की क्या आवश्यकता थी? नही जाते क्या होता गंग की तरह मारे जाते, बस इतना ही ना। फिर इन्हें अनासक्त कैसे मान लिया जाये। कहने का तात्पर्य ये है कि इनके जैसे तमाम कवि अनासक्त कहलाते हुए भी आसक्त थे। इसी अष्टछापी कवियों के निर्माणकर्ता गो विट्ठलनाथ भी आसक्त थे। एक प्रकार से कह सकते कि ''अंधे–अंधा ठेलिया'' का रेलमपेल चल रहा था। मठों–मन्दिरों की गद्दीयों के उत्तराधिकारियों की नियुक्ति में भी राजनीति होती थी। आचार्य वल्लभाचार्य के मृत्योपरान्त गद्दी के प्रश्न पर पारिवारिक विवाद चला जिसमें एक

* शोधार्थी, बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

अष्टछापीय कवि कृष्णदास ने गोपीनाथ जी के बड़े पुत्र पुरूषोत्तम को गद्दी पर बिठाने में उनकी विधवा का साथ दे दिया। फिर क्या था महाराज नाराज हो गये। दोनो में मनमुटाव हो गया। ऐसे थे अष्टछापीय निर्माणकर्ता विट्ठलनाथ जी।

कृष्णश्रयी के सभी कवि कृष्ण की भक्ति तो करते थे पर अपने कर्म–अकर्म को आत्मसात नहीं कर पाये। भक्तिकाल के अन्तर्गत अन्य शाखाओं के कवियों की दृष्टि में जहाँ लोक का भाव था वहीं अपनी कविताओं से समाज को आन्दोलित करने का हुनर भी था। मैं सहयोग, रहस्यधर्मिता की बात पर विचार नही कर रहा हूँ जिसमें ईश्वर भक्ति के साथ–साथ लाखों पीढ़ित जनता थी–

''खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
वनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।''
कहै एक एकन सो ' कहा जाइ, का करी।।[3]

एक कहावत पर ध्यान जाता है कि–

'भूखे भजन ना होय गोपाला' सो इनका पेट तो भरा रहता था, मंदिरो मठों में भोजन चढ़ावे की कोई कमी थी नही। ये भक्त खूब जमकर खाते थे और फिर खूब मन लगाकर श्रृगांरमयी पद, गीत गाते थे। जिनका पेट भरा हो उनकी दृष्टि देश दशा की स्थिति, जनता पर जा ही नही सकती। ये पेट भरपाई ही इनके आसक्त और आलस्य का कारण बनी। कोई राधा में खुश था, तो कोई इनकी सखी रूप में एक प्रकार से ये कामुकता को बढ़ावा को गुमराह करने की साजिश भी थी। इस शाखा के अन्तर्गत सूर को अपवाद मान सकते है, क्योंकि वो बिना दृष्टि का महाकवि पूरी दृष्टि से कभी–कभी लोक की तरफ टुकुर–टुकुर ताक रहा था। वर्तमान समय के तमाम मर्ठो डेरों से इनकी तुलना हम आसानी से कर सकते है।

बहुत से विद्वानों को इस आलस्य शब्द के प्रयोग पर आपत्ति हो सकती है, क्योंकि साधारण शब्दों में उनका मानना है कि अपने कर्म के प्रति जागरूक न होना और दिये गये कार्य को न करना ही आलस्य की सुव्याख्यायित परिभाषा हो सकती है, किन्तु ऐसे महानुभावों सैयह प्रश्न है कि दिए गये काम जो अपने ही उपयोगी है, उसको करना न करना ही आलस्य है तो फिर देश काल, लोक के बारे में न सोचना क्या है? शायद अपने जन्म को सही रूप में लोक प्रतिपादित न करना ही आलस्य है। जब विश्व मानव जाति की चिंता अपनी चिन्ता हो जाय वहाँ आलस्य का ना होना दिखाता है। कृष्ण भक्ति शाखा की यही सबसे बड़ी कमजोरी हो गयी है। वे अपनी और अपने सम्प्रदाय की चिन्ता तो करते थे लेकिन देश–काल, परिस्थिति लोक से विमुख थे। श्री भट्ट के शब्दों में–

''भीजत कब देखौ इन नैना।
स्यामजूं की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना।।[4]

इसमें भगवान के झलक की अनुभूति तो मिल जाती है, पर लोक कहाँ है? मेरा प्रश्न यही पर अटक जाता है। मेरे ख्याल से आलस्य का स्वरूप यह है कि जब जगत के दुःख को अपना दुःख समझकर किसी क्रांतिकारी कदम की ओर कर्म प्रतिपादित हो वही वास्तविक कर्म है जहाँ पर अहम् आलस्य तिरोहित होता है। मान लिजिए आप किसी देवता की आरती भाव विभोर होकर गाये जा रहे थे प्रक्रिया आप रोज कर रहे है एक दिन, दो दिन..... .....दस दिन तब मेरी दृष्टि में ये कोई कर्म नही कहाँ हुआ, ये तो कर्म करने का ढ़ोंग हुआ। अगर उसी पाठ में ईश्वर के साथ लोक की चिंता नित्य जुड़ी होती तो आपका कर्म चिरंजीवी होता। शायद यही कारण है आज तमाम विचारधारायें एक–दूसरे से टकराती हुई प्रतीत होती है। मोटे तौर पर हम आलस्य के दो भाग कर सकते हैं– अंशिक और मानसिक। आंशिक विषय हाथ, पैर, आँख, तीन भागों से सम्बन्धित है। हम खाना खाना चाहते है बड़ी जोर की भूख भी लगी है पर हाथ से खाना उठाना नही चाहते। सामने ही एक विकलांग व्यक्ति सड़क पार करना चाहता है पर हम देखते हुए भी उसके पास जाकर मदद नहीं करना चाहते। ये सब आंशिक आलस्य के उदाहरण है। मानसिक आलस्य वहाँ होता है जहाँ हमें मालूम होता है कि फला जगह पर हमारे जाने से पचास लोगों का भला होगा, ठीक उसी वक्त ये सोच लेना कि इसमें मेरा क्या फायदा होगा और उस कार्य से विमुख हो जाना मानसिक आलस्य का उदाहरण है। कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों में आलस्य के ये दोनों विभाग पूर्णरूप से विद्यमान थे। ये अपने घेरे से बाहर ही

नहीं निकालना चाहते थे, यह सब देखते हुए भी उनके प्रिय ईश्वर की मूर्तियाँ और मन्दिर धूल–धूसरित किये जा रहे है।

''देश म्लेक्षाक्रांत है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरूष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।''[5]

वल्लभाचार्य का ये कथन सम्प्रदाय और शाखा को कर्तव्यपथ से विमुख कर आलस्य की तरफ ढकेलने जैसा है। यदि यहाँ पर वल्लभाचार्य कृष्णाश्रय शाखा कि साथ या उसके बगैर कोई लोक कदम की बात कहें होते तो सम्भवतः ये अट्ठारह सौ सत्तावन से पहले सबसे बड़ी क्रांति होती।

इन कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों के आलस्य एवं आसक्ति का परिणाम यह हुआ कि देश और देश के लोग अगले दौ सौ पचास सालों तक कर्तव्यविमूढ़ हो गया। पूरा रीतिकाल सम्भवतः इसी कदम का परिणाम रहा। इनकी अति सुकुमार और मधुर गान ने आगे चलकर अतिकामोत्तेजक और अश्लील गान का महल खड़ा कर दिया। भिखारीदास के शब्दों में–

'' आगे के कवि रिझियों तौ कविताई,
न तौ राधिका–कन्हाई को सुमिरन को बहानो है।''

यहाँ भी कवि को अपने कविता कर्म पर संदेह है, और इस अनुपयोगिता को छुपाने के लिए तो राधा कृष्ण है ही।

प्रिया के रूप को देखकर प्रिय अपनी सुध बुध खो बैठते हैं। प्रिया जी का सहज सौन्दर्य ललाट पर बिखर आयी एक अलक, फिर कुछ विचित्र प्रकार से उनका देखना ये सब मोहन की पलक न लगने देने के लिए पर्याप्त है :–

''रसबस होत लाल, प्यारी तेरी बदन झलक।
अपने सुभाव की सहज माधुरी,
बनी है ललाट पर पतरी अलक।''[6]

भगवान श्रीकृष्ण जैसे अद्वितीय विराट व्यक्तित्व के स्वामी का एकमात्र पक्ष लेकर सबका उसी पक्ष पर दौड़ पड़ना कर्म न करने का सरल बहाना है। आगे चलकर रीतिकाल में तो ऐसे भक्त कवियों की स्थिति बद से बदतर हो जाती है।

अतः अगर कृष्णाश्रयी शाखा का स्वर्णयुग कहा जाय तो रीतिकाल को हिन्दी साहित्य के इतिहास को अंधकारयुग कह सकते है।

सन्दर्भ –

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः रामचंद्र शुक्लः नागरी प्रचारिणी सभा, काशीः 1942
2. हिन्दी साहित्य का इतिहासः (सं0) डा0 नगेन्द्रः मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2012
3. कवितावली की टीका : भगवानदीन
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल : नागरी प्रचारिणी सभा, काशीः 1912
5. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकासः रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन : 1996
6. हिन्दी साहित्य का इतिहासः (सं0) डा0 नगेन्द्रः मयूर पेपरबक्स, नोएडा, 2012